



# अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,  
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी  
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी  
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,  
9415245707  
ईमेल: skt\_gpu@yahoo.com

पत्रांक:मेमो/अ0बौ0के0/09/2020

दिनांक 23.04.2020

पिछले प्रबोधनों में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि पूर्ण नैराश्य ही योग में प्रवेश का द्वार है। सामान्यतः इस पर विश्वास करना कठिन है कि कैसे 'निराशा' योग की तरफ ले जा सकती है, क्योंकि जब सांसारिक उपलब्धि हेतु ही 'निराशा' सहायक नहीं होती तो कैसे यह योग जैसे उच्चतर आयाम की प्राप्ति में किसी भूमिका का निर्वहन कर सकती है? मनोवैज्ञानिक चिन्तक भी यही मानते हैं कि किसी भी उपलब्धि या सफलता हेतु 'आशा' ही महत्वपूर्ण होती है। उद्देश्य की उपलब्धि के प्रति अटूट आशा ही वह निर्णायक कारक है जो किसी भी व्यक्ति को कठोर परिश्रम हेतु प्रेरित करती है।

इस विरोधाभास को समझने के लिए हमें पश्चिमी मनोविज्ञान/पश्चिमी दृष्टि एवं पूरब के मनोविज्ञान/भारतीय दृष्टि के मौलिक विभेद को स्मृति में रखना होगा। पिछले प्रबोधनों में हमने यह देखा कि पश्चिमी दृष्टि सदैव 'अन्दर से बाहर' जाती है, वह मनुष्य को समझने हेतु उसकी परिधि – उसकी उपलब्धियों का सहारा लेती है, तदनुसार उसे परिभाषित करती है। जहाँ भी मनुष्य की सांसारिक उपलब्धियों के आधार पर उसे समझने की प्रवृत्ति पायी जायेगी तो स्वाभाविक रूप से वहाँ प्रतिद्वंद्विता, संघर्ष का प्रादुर्भाव होगा क्योंकि सफलता के शीर्ष पर सभी बैठने को उत्सुक होंगे। जो भी इस महत्वाकांक्षा की दौड़ में पीछे रह जाता है वहीं तनाव, अवसाद आदि से ग्रस्त हो जाता है। मानव की नकारात्मक वृत्तियों— क्रोध, ईर्ष्या—द्वेष, घृणा आदि इसी दृष्टि के प्रतिफल होते हैं। इतना ही नहीं जो भी व्यक्ति इस दौड़ में भाग नहीं लेना चाहता उसे भी इसी दृष्टि के कारण मानसिक रूप से कमजोर भी माना जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान ऐसे सभी लोगों के लिए निश्चित ही उपादेय है जो इस पश्चिमी दृष्टि की कसौटी पर खरे न उतरने के कारण किसी न किसी रूप में मानसिक रूप से अस्वस्थ हैं। मन की दृष्टि से रूग्ण, असामान्य लोगों की चिकित्सा करने में निश्चित ही यह मनोविज्ञान सहायक है। जिससे सामान्य, साधारण सांसारिक जीवन को सुगम बन सकता है। अगर हम अपने सामान्य जीवन में डांवाडोल हो गये हैं, ठीक से अपने जीविकोपार्जन का कार्य करने – यथा दुकान चलाने, कार्यालय जाने में कठिनाई अनुभव कर रहे हैं, हमारी स्मृति हमारा साथ नहीं दे रही है; संक्षेप में मन की अस्वस्थता हमारे सामान्य जीवन को प्रभावित कर रही है तो निश्चित ही यह मनोविज्ञान हमारी चिकित्सा कर हमें सामान्य रूप से जीवन जीने में सहायक हो सकता है— यह हमें समाज या परिवार के साथ समायोजित कर सकता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तक अभी कुछ दशकों के पूर्व तक यह मानते रहे हैं कि 'आशा'; सांसारिक यातना – दुःख के मध्य व्यक्ति को मात्र सांत्वना ही प्रदान नहीं करती



# अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,  
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी  
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी  
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,  
9415245707  
ईमेल: skt\_gpu@yahoo.com

बल्कि यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र – शैक्षणिक उपलब्धि से लेकर दुष्कर से दुष्कर कार्य को समुचित एवं सम्यक ढंग से कुशलतापूर्वक करने की क्षमता से युक्त करके सफल बनाती है। 'आशा', सामान्यतः असफल, लक्ष्य से चूके हुए लोगों को प्रायः दी जाने वाली सांत्वना – "भगवान सबका भला करेंगे", "घबड़ाओ मत, सब कुछ ठीक हो जायेगा", "ऊपर वाले की लाठी से आवाज नहीं होती" आदि से कुछ कहीं अधिक होती है। जीवन में तमाम उथल पुथल एवं निराशा के बाद भी यह सुदृढ़ अपेक्षा एवं विश्वास कि सब कुछ भविष्य में ठीक हो जायेगा, इस 'आशा' का आधार है। मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि 'आशा' से युक्त व्यक्ति अपनी असफलता के कारणों के रूप में उन तथ्यों एवं परिस्थितियों को देखते हैं जिन्हें परिवर्तित किया जा सकता है और सफलता पायी जा सकती है, जबकि जिन लोगों में इसका अभाव होता है वे अपनी असफलताओं का उत्तरदायित्व ऐसे तथ्यों एवं परिस्थितियों को मान लेते हैं जिन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि 'आशा' सम्बन्धी यही दो दृष्टियाँ, जीवन के प्रति दृष्टि कैसी होगी – आशावादी/निराशावादी का निर्धारण करती हैं?

उपर्युक्त 'आशा' को निराशा, हताशा, जीवन में व्याप्त बुराईयों के परिप्रेक्ष्य में ही पश्चिम समझता है। पश्चिमी चिंतन एक तरह से ग्रीक चिंतन का ही विस्तार है। ग्रीक की एक प्राचीन किवदंती के अनुसार 'पंडोरा' धरती की पहली महिला थी जिसे देवताओं के देवता 'जीउस' के आदेश पर हेफस्तस ने पानी और धरती के उपयोग तथा देवताओं की विशेषताओं को समाहित करते हुए बनाया था। 'जीउस' ने ईर्ष्यावश उसे एक जार (बाक्स) इस चेतावनी के साथ दिया कि वह इसे कभी भी नहीं खोलेगी, लेकिन एक दिन पंडोरा ने उत्सुकतावश उसे खोल दिया, जिससे उसमें बंद की गयी बुराईयाँ दुनिया में आ गयी। भयभीत पंडोरा ने 'जीउस' के पहले आदेश के अनुसार अविलम्ब उसे बंद कर दिया और 'आशा' उसमें से बाहर आने से बची रही। इसी 'पंडोरा बाक्स' के नाम पर आधुनिक काल में एक मुहावरा विकसित हुआ, जिसका तात्पर्य "किसी बड़ी एवं अप्रत्याशित समस्याओं का स्रोत" अथवा विकल्प के रूप में "किसी ऐसे वर्तमान से होता है जो देखने में मूल्यवान है लेकिन वास्तविकता में अभिशाप है।"

ग्रीक की उपर्युक्त किवदंती के आधार पर कहा जा सकता है कि दुनिया की समस्त बुराईयों के काट (antidote) के रूप में पश्चिम ने 'आशा' को स्वीकार किया। इसी से प्रायः यह कहा जाता है कि परिवर्तन काल का धर्म है; जीवन में कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष आते रहते हैं, मनुष्य को कृष्ण पक्ष से धबरा कर हमें हताश नहीं होना चाहिए और धर्म के प्रकाश से रास्ता बनाना चाहिए तथा निराशा की धरती पर 'आशा' का बीज बोना चाहिए। सामान्य



# अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,  
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी  
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी  
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,  
9415245707  
ईमेल: skt\_gpu@yahoo.com

सांसारिक जीवन हेतु ही 'इस' आशा की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन जब सब ठीक चल रहा है, कोई किसी प्रकार की दिक्कत नहीं है, धन, वैभव, सम्पत्ति, यश, मान, पद, शक्ति सब कुछ है लेकिन तब भी कुछ रीता सा खाली – खाली लगता है, और अचानक ऐसा प्रतीत होता है कि सब कुछ के बाद भी अभी भी भरा – भरा नहीं है। *जिस दिन 'आशा' प्रेरित कठोर श्रम से प्राप्त समस्त सांसारिक उपलब्धियों के उपरान्त भी जब निराशा आती है तो वह किसी आकांक्षा की पूर्ति या लक्ष्य की प्राप्ति न हो पाने से उत्पन्न निराशा से गुणात्मक रूप से भिन्न होती है।* यही निराशा हमें बुद्ध पुरुषों तक ले जाती है, यही हमें न केवल जीवन अपितु, 'स्वयं को जानने' को विवश करती है।

पूरब का मनोविज्ञान इसी अधिष्ठान से अपने विश्लेषण में 'बाहर से अन्दर' यात्रा करता है और उस केन्द्र को जानना चाहता है, जो हमारे समस्त वाह्य व्यवहार को निर्देशित एवं ऊर्जा प्रदान करता है। परिपूर्ण नैराश्य हमारे इसी यात्रा का कारण बनता है। बुद्ध, पतंजलि आदि का मनोविज्ञान उनको कथनों के निहितार्थ को इसी स्थिति में समझा जा सकता है। सामान्य मनोविज्ञान रोगियों, कमजोरों के लिए होता है, वहीं यह मनोविज्ञान स्वस्थ एवं शक्तिशाली लोगों के लिए है— ऐसे लोगों के लिए जिनके पास सब कुछ होते हुए भी यह अनुभव होता है कि कुछ भी नहीं है, भरा-पूरा जीवन उजाड़, नीरस लगता है, सम्पत्ति विपत्ति प्रतीत होती है।

बुद्ध एवं पतंजलि परम जीवन के मनोविज्ञान के हस्ताक्षर हैं उस जीवन जिसके बाद कोई अंत नहीं है, जो शाश्वत एवं सनातन है। उनकी देशना से उस धर्म – नियम की झलक मिलती है जो सनातन एवं शाश्वत की उपलब्धि का हेतु है। सनातन एवं शाश्वत के सम्बन्ध में उपलब्धि की बात भी अयुक्तिपूर्ण है क्योंकि वस्तुतः हम – वहीं हैं आवश्यकता 'स्व-बोध' या जिसे कृष्णमूर्ति ने जागरूकता (awareness) कहा है, की है। यह कोई अपने से भिन्न नहीं है जिसे प्राप्त करना है; यह हमारा आत्यांतिक स्वभाव है जो विस्मृत हो गया है; हम भूल गये हैं कि हम 'अमृतस्य पुत्र' हैं। अगर इसे उपलब्ध करना होता तो कठिनाई होती कि किस उपलब्धि से हम मानेंगे कि यह उपलब्ध हो गया है क्योंकि संसार में **उपलब्ध करने को बहुत कुछ है शायद इसी से हम वाह्य सांसारिक उपलब्धि हेतु इस आशा से प्रयासरत रहते हैं कि उसे पा लेंगे जो हमें 'भर देगा'।** इसी से जितना ही हम सांसारिक उपलब्धि करते जाते हैं उतना ही रिक्त होते जाते हैं— उतना ही स्वयं से दूर होते जाते हैं।



# अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,  
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी  
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी  
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,  
9415245707  
ईमेल: skt\_gpu@yahoo.com

हमारा जीवन प्रतिफल जागरुकता के साथ एक परीक्षण होना चाहिए, जीवन एक निरन्तर परीक्षा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, परीक्षा यदि शुचितापूर्ण— पूरे होशोहवास में दी जायेगी तो कोई कारण नहीं है कि हम उत्तीर्ण न हो। हम तो ऐसे हैं कि सामान्य शैक्षिक परीक्षा में भी सफलता का कोई न कोई छोटा रास्ता खोजते हैं और उसी को अपनी उपलब्धि मान लेने की भूल कर बैठते हैं। ठीक इसी तरह से हम जीवन की महती परीक्षा को समझने की भूल कर बैठते हैं और छोटी-छोटी उपलब्धियों को यह मानकर संतुष्ट हो जाते हैं कि हमने परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है। हमें प्रत्येक पग पर उत्तीर्ण हो जाने, मंजिल पर जाने का भ्रम हो जाता है क्योंकि हम जागरुक नहीं होते। मूर्छित रहना, प्रमाद में रहना हमारी आदत हो चुकी होती है, हम घाटियों में रहने की अपनी पुरानी आदत के कारण, घाटियों को ही लक्ष्य मान लेते हैं। हम यह विस्मृत कर जाते हैं कि घाटियाँ, घाटियाँ इसलिए होती हैं क्योंकि वहाँ उत्तुंग शिखर होते हैं।

वह कौन सी कसौटी होगी जिसमें हमें यह ज्ञात होगा कि हमने परीक्षा शुचितापूर्ण दी है और वास्तव में उत्तीर्ण हुए हैं – लक्ष्य की प्राप्ति हुई है? इसका एक ही स्वर्णिम सूत्र है कि **“जब तक यह लगे कि जो हमारे अनुभव में प्रदत्त है, वह हमसे भिन्न है तब तक हमें यह जान लेना चाहिए कि हम उत्तीर्ण नहीं हुए हैं— हमें परीक्षा का यथोचित परिणाम नहीं मिला है— मंजिल अभी भी दूर है।”** जो भी अनुभवगत है, जो भी प्रत्यक्ष का विषय है वह सब स्वप्नवत होता है। जिस दिन हमें कुछ भी न दिखे; कुछ भी अनुभव में न आये; केवल चैतन्य बचे, देखने वाला बचे; दृश्य खो जाय, द्रष्टा ही शेष रहे, द्रष्टा के अतिरिक्त चतुर्दिक कुछ भी न रह जाए— शुद्ध चैतन्य, साक्षी रह जाय, दर्पण रहे लेकिन कोई प्रतिबिम्ब न हो तो ही जानना चाहिये कि हमने परीक्षा शत प्रतिशत अंको के साथ उत्तीर्ण की है। यही वह स्थिति है जिसकी तरफ पतंजलि ने संकेत करते हुए कहा कि **“तब साक्षी स्वयं में स्थापित हो जाता है”** (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्) यही निर्वाण है, यही मुक्ति है, यही योग है। जिसके तरफ हम तभी जाते हैं जब यह जान लेते हैं कि वह जीवन जिसे हम जानते हैं, जीते हैं, वह एक वृहद् मृगतृष्णा है और इस अनुभूति से उत्पन्न निराशा ही हमारे लिये वास्तव में आशा की एक मात्र किरण है।



# अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,  
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी  
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी  
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,  
9415245707  
ईमेल: skt\_gpu@yahoo.com

जैसा जीवन हम जीते हैं उसकी असारता की अर्न्तदृष्टि हमें पश्चिमी चिंतन में भी यदा कदा मिल जाती है। सुकरात के कथन “स्वयं को जानो” में भारतीय मनीषा की जिज्ञाशा “कोऽहम्” (मैं कौन हूँ) की झलक मिलती है। “स्वयं को जनना” केन्द्र के रूप में भी हो सकता है और अपनी भावनाओं को, जिस रूप में वे उत्पन्न होती हैं, के प्रति सजगता के रूप में भी हो सकता है। इसमें हम अपनी आंतरिक स्थिति के बारे में सजग होते हैं। **इसके द्वारा हम “जो हो रहा होता है” उसके प्रति सजग होते हैं न कि “जो हो रहा होता है” उसके नियंत्रण में आ जाते हैं।**

एक प्राचीन जापानी कहानी के माध्यम से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। एक बार एक समुराई योद्धा ने एक ज्ञेन गुरु के पास जाकर उन्हें स्वर्ग एवं नरक की अवधारणा को स्पष्ट करने की चुनौती दी। इस पर उस गुरु ने तिरस्कार करते हुए कहा कि “तुम एक गंवार व्यक्ति हो, तुम्हारे जैसे व्यक्ति के साथ मैं अपना समय नष्ट नहीं करना चाहता हूँ।” उस योद्धा का सम्मान गुरु के इस कथन से इतना आहत हुआ कि उसने क्रोध के वशीभूत होकर म्यान से अपनी तलवार निकालते हुए कहा कि “मैं तुम्हारी अशिष्टता के लिए तुम्हें मार डालूँगा।”

इस पर गुरु ने अत्यंत शांत भाव से कहा कि “यही नर्क है”।

क्रोध जिसने उस योद्धा के ऊपर आधिपत्य जमा लिया था और वह उसके इतने नियंत्रण में आ गया था कि वह गुरु को मार डालने तक के लिए तैयार था, लेकिन इसके बाद भी गुरु शांत रहा – इस तथ्य के प्रति सजगता ने उस योद्धा को इतनी गहराई से झकझोर दिया कि वह गुरु के चरणों में अपनी तलवार रखते हुए झुक गया और उसके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित किया।

पुनः पहले की ही भाँति शान्त रहते हुए गुरु ने कहा कि “यही स्वर्ग है।”

अपनी उद्विग्न अवस्था के प्रति योद्धा की अचानक जागृति – उद्विग्नता को होश पूर्वक देखने का परिणाम है। किसी भावना के वशीभूत होने और इस बात के प्रति होश बनाये रखने कि हम भावना के वशीभूत हो रहे हैं, से अचानक हम स्वयं की भावना को इस प्रकार देखने



# अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,  
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी  
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी  
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,  
9415245707  
ईमेल: skt\_gpu@yahoo.com

लगते हैं कि मानो वह किसी अन्य की हो और हम अनायास ही उस भावना की पकड़ से बाहर हो जाते हैं। हम यह जान लेते हैं कि हमारी भावनाओं का बटन कैसे दबता है।

स्वयं के बोध से हमारी भावनाओं का बटन हमारे हाथ में हो जाता है। हमें यह जान लेते हैं— हम हैं और हमारी भावनाएं हैं, हम उनकी पृथक्ता के प्रति सजग हो जाते हैं— साक्षी भाव द्वारा। मनुष्य होने के यही अर्थ है कि कोई हमारी किसी भावना — यथा क्रोध का ही बटन दबाता जाय लेकिन हम क्रोधित न हो, बटन कितना ही कैसे भी दबाया जाय लेकिन हम क्रोध न करें तभी यह माना जायेगा कि मैं अपना स्वामी हूँ, स्वयं को जानता हूँ। मैं जब चाहूँगा तब क्रोध की क्रिया करूँगा अन्यथा प्रतिक्रिया स्वरूप क्रोध नहीं करूँगा क्योंकि क्रिया में बटन मेरे पास होता है जबकि प्रतिक्रिया में दूसरे के पास। **इसी के साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रिया हमें मुक्त करती है जबकि प्रतिक्रिया हमें बाधती है।**

कोरोना ने अनायास ही उस जीवन, जिससे हम परिचित हैं, के खोखलेपन को उजागर कर दिया है। पूंजीवाद की निर्ममता को हमारे समक्ष नग्न कर दिया है। सांसारिक उपलब्धि के पागलपन ने हमें किस सीमा तक विक्षिप्त कर दिया है इसका इससे उचित उदाहरण नहीं दिया जा सकता है लेकिन इसी के साथ इसका एक सकारात्मक संदेश भी है कि हमें 'घरो' में रहना चाहिए— उन 'घरो' में जो वास्तव में हमारा हैं और इसी से हम अपने समान अन्य जीवित अस्तित्वों की रक्षा कर सकते हैं। हमारे थोड़ा सा अपने भौतिक घरो में रहने के फलस्वरूप प्रकृति कितनी तेजी से अपने स्वरूप को प्राप्त कर रही है तो सोचिये यदि हम सभी की 'घर वापसी' हो जाय तो संसार कैसा होगा।

सुशील कुमार तिवारी  
(विशेष कार्याधिकारी)  
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र  
सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,  
सिद्धार्थनगर।